रूप की धूप

भूमिका

पं. सीताराम चतुर्वेदी

यशस्वी कवि श्री गुलाब ने 'रूप की धूप' नाम के अपने इस मुक्तक संग्रह में सौ से अधिक दोहों और लगभग पाँच सौ चौपदों का संग्रह प्रस्तुत किया है। यद्यपि चार चरणों के छंद लिखने की पद्धति संस्कृत में भी विद्यमान थी किन्तु जिस पद्धति पर इन मुक्तकों की रचना की गयी है उसका आगम फारसी काव्य-पद्धति से है जिसका प्रथम प्रभावशाली रूप हरिऔधजी ने हिन्दी मुहावरों का आश्रय लेकर 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' के रूप में सुग्रथित किया था। अब तो फारसी की उस रुबाई पद्धति का ऐसा चलन हो चला है कि जब तक कोई कवि अपने गीत या कविताओं का पाठ करने से पूर्व एक-दो रुबाई न पढ़ दे तब तक न उसे मनस्तोष हो पाता है, न कवि-समाज को, न संभवतः आज के श्रोताओं को ही।

फारसी में रुबाई नामक छंद चार मिसरों (चरणों) का होता है जिसमें नीति के महत्त्वपूर्ण उपदेश नपे-तुले, थोड़े से शब्दों में, सुन्दर, आकर्षक, प्रभावशाली तथा प्रायः रूढोक्तिपूर्ण (मुहावरेदार) भाषा में कहे जाते हैं। अरबी और फारसी साहित्य में रुबाइयों का बड़ा प्रचार रहा जिनमें उमर खय्याम की रुबाइयों ने तो विश्व साहित्य में ऐसी धूम मचाई कि संसार की प्रायः सभी भाषाओं में उनके अनुवाद हो गये।

सभी रुबाइयों में अरबी और फारसी छंद-शास्त्र के अनुसार अन्त्यनुप्रास या तुक (क़ाफ़ियों) का प्रयोग अनिवार्यतः होता है। किन्तु अरबी, फारसी और उर्दू में यदि चरण के पदांत में कोई स्वर भी आ जाय तो वह भी क़ाफ़िये के अंतर्गत स्वीकार कर लिया जाता है। वहाँ 'लगा, सदा, हुआ, बजा' भी क़ाफ़िये के अंतर्गत मान लिये जाते हैं। किन्तु हिन्दी में लगा के तुक के लिये 'जगा, भगा, ठगा'

आदि होने ही चाहिये। फारसी और उर्दू में क़ाफ़िये के साथ-साथ 'रदीफ़' (अन्त्य-पद-समूह) का भी प्रयोग होता है और वह ग़ज़ल के सभी शेरों के अंत में निश्चित रूप से बना रहता है, बदलता नहीं। यह 'रदीफ़' सदा 'क़ाफ़िये' या 'तुक' के पश्चात् जोड़ा जाता है, जैसे ---

इशरते क़तरा है दरिया में फ़ना हो जाना
दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना

इस शेरमें 'फ़ना' और 'दवा' तो क़ाफ़िया (तुक) है और 'हो जाना' रदीफ़ (अन्त्य-पद-समूह) है। यह 'हो जाना' पूरी ग़ज़ल के प्रत्येक शेर के दूसरे मिसरे (चरण के अंत) में निश्चित रूप से आता है। कभी-कभी रदीफ़ एक ही अक्षर का होता है पर कभी-कभी आधे से अधिक मिसरा तक रदीफ़ हो जाता है, जैसे ---

मुझे तो प्यार ऐसा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता
वो बुत बेज़ार है ऐसा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता

इसमें 'प्यार' और 'बेज़ार' क़ाफ़िया है और 'ऐसा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता' कुल का कुल रदीफ़ है। किन्तु कभी-कभी रदीफ़ का पूर्ण अभाव भी होता है, जैसे ---

हर शाख में है शिगूफाकारी
समरा है अलम का हम्देवारी

इसमे 'कारी' और 'वारी' का क़ाफ़िया तो है पर रदीफ़ नहीं है। श्री गुलाब ने अपनी रुबाइयों में तुक (क़ाफ़िया) और रदीफ़ (अन्त्य-पद-समूह) दोनों का यथास्थान प्रयोग किया है और विचित्र बात यह है कि इन्हें भी नवीन मात्रिक और वार्णिक छंदों में ढालकर इनकी शुद्धि कर ली है। अरबी भाषा की छन्दोयोजना के अनुसार शब्द पर दिये जानेवाले बल के आधार पर छंद की लय बिठाई जाती है, मात्रा या वर्ण के अनुसार नहीं। प्रायः प्रत्येक छंद में दो मिसरे (पदांत) होते हैं और दूसरे मिसरे के अंतिम शब्द में पदांत (मिसरा तरह) होता है जिसमें स्वर और स्वरांत व्यंजन होता है; पदांत, जो सब प्रकार की काव्य-रचनाओं के लिये अनिवार्य समझा जाता है।

अरबी में हलील बिन अहमद ने लगभग ७८२ ई. में उरूज़ (छन्दःशास्त्र) की सर्वप्रथम रचना की थी और उसने ही फल् धातु से विभिन्न प्रकार के छंदों के रूप बाँधने की रीति निकाली थी। हलील ने सोलह छंद गिनवाये हैं जिनमें से अधिकांश का प्रयोग अरबी और फारसी कविताओं में अभी तक हो रहा है।

ईरान में सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व ही छन्दःशास्त्र का प्रचलन हो चला था और प्रत्येक छंद के प्रत्येक वर्ण की उसी प्रकार गणना की जाती थी जैसे हमारे यहाँ वार्णिक छंदों की होती है। किन्तु पीछे चलकर फारसवालों ने अधिकांश छंद अरबी से ले लिये जिनके प्रत्येक मिसरे या पद में कई चरण (अरकान) और प्रत्येक पद में कई लयान्वितियाँ (उसूल या सिलेबिल) होते हैं। ये 'उसूल' तीन प्रकार के होते हैं --- शबब, वतद और फ़ासिला

इन तीनों के भी दो-दो भेद होते हैं। खफ़ीफ़ (श्रुतिमधुर) और सकील (कठोर)।

खफ़ीफ़ शबब वह अक्षर होता है जिसमें स्वरित व्यंजना के पीछे स्वरहीन व्यंजन आता है जैसे काम्।

सकील शबब वह अक्षर होता है जिसमें दो स्वरित व्यंजन एक साथ आते हैं जैसे 'फरा'।

खफ़ीफ़ वतद में दो स्वरित अक्षर और एक स्वरहीन अक्षर आता है जैसे चमन्।

सकील वतद में स्वरहीन अक्षर बीच में आता है, जैसे पार् सा

खफ़ीफ़ फ़ासले में दो स्वरित अक्षर होते हैं और उनके पीछे अनुनासिक (तनवीन) की ध्वनि के साथ स्वरहीन अक्षर आता है, जैसे जबलिं।

सकील फ़ासले में तीन स्वरित अक्षर आते हैं और उनके पीछे एक स्वरहीन अक्षर 'तनवीन' की ध्वनि के साथ आता है, जैसे बरकतिं।

ये चरण (अरकान) या तो पूर्ण (सालिम) होते हैं या अपूर्ण (ग़ैरसालिम) होते हैं। पूर्ण पद (सालिम अरकान) में किसी प्रकार का परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं हो सकता किन्तु अपूर्ण पद (ग़ैरसालिम अरकान) में परिवर्त्तन, परिवर्द्धन सब कुछ हो सकता है। इस अपूर्ण पद को 'मुजाहफ़' कहते हैं और परिवर्त्तन को 'जिहाफ'।

श्री गुलाब ने न तो अरबी छन्दःशास्त्र के ही अनुसार रचना की है और न फारसी के अनुसार। किन्तु जैसे अवधी या ब्रजभाषा के कवित्त, सवैये तथा चौपाई में कुछ गुरु वर्णों को भी लघु पढ़ने की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार कहीं-कहीं उर्दू के प्रभाव के कारण इनकी रुबाइयों में भी उसकी झलक मिल जाती है। किन्तु सामान्यतः इन्होंने हिन्दी छन्द-रचना-पद्धति का ही निष्ठापूर्वक अनुसरण करने का प्रयत्न किया है।

किसी प्रकार के भी काव्य में रस और भाव के अनुकूल ऐसी छंदोंयोजना की जानी चाहिए कि वह संतुलित हो, उसे पढ़ने में लयभंग न हो, वह सरलता से सबकी बुद्धि में समा सके, सुनते ही सबको कंठस्थ हो जाय और छंदों की शब्दावली से ही नहीं, वरन छंद की गति या लय के प्रवाह और वेग से भी रस और भाव की ध्वनि स्पष्ट समझी जा सके जैसे हिन्दी में वीर, भयानक, और रौद्र रसों के लिये छप्पय, और घनाक्षरी छंदों का प्रयोग किया जाता था। महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपने सुवृत्त-तिलक नामक ग्रन्थ में छंदोंयोजना की विशेष विस्तृत व्यवस्था का विधान करते हुए बताया है कि कहाँ, किस निमित्त, किस प्रकार के वर्णन और भाव के लिये, किस छंद का; कब प्रयोग करना चाहिए। किन्तु रुबाई तो मुक्तक-रचना के लिये प्रयुक्त होनेवाला एक ही छंद है जिसमें सब प्रकार के भाव एक ही लय में रखने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में कवि को केवल शब्दों से ही भाव व्यक्त करने की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसी दृष्टि से गुलाब ने अपने मुक्तकों या रुबाइयों में भाव के ही अनुसार छंदों को सँवारने का प्रयत्न करते हुए कई छंदों का प्रयोग किया है।

इन संग्रहों में सर्वप्रथम अंश हैं 'अस्मिता', जिसमें कवि स्वयं साक्षात् अनेक रूपों में अपनी अलग-अलग झलक देता है। कवि ने इसमें अपनी विवशता, तेजस्विता, आत्मबल, अहंकार, खीझ, विफलता, आत्मविश्वास, मनस्ताप, मनोमंथन, आत्म-चिंतन, जीवन के मधुर और कटु अनुभव, धैर्य, परिवेश का प्रभाव, प्रियजनों द्वारा किया हुआ अनुराग, प्रत्यनुराग, उपेक्षा, आशा, निराशा, चिंता, वेदना, धैर्य, सबको विभिन्न चटकीले रंगों में प्रस्तुत करने का अभिनव और श्लाघनीय प्रयास किया है। महत्त्वशील तत्त्व यह है कि ये सब भावनाएँ पूर्णतः सात्विक हैं, फारसी या उर्दू के कवियों की बाह्य अभिव्यक्ति के समान केवल प्रदर्शन और शब्दाडम्बर में उलझाकर सस्ती वाहवाही लूटने का छलपूर्ण प्रयास मात्र नहीं। सबसे अधिक प्रशंसनीय तत्त्व यह है कि कवि ने किसी प्रकार का छद्म-वेष या घटाटोप धारण करने की कृत्रिमता का प्रदर्शन नहीं किया वरन् जो कुछ उसने स्वतः अनुभव किया उसे निश्छद्म रूप से प्रस्तुत करने में न तो ढिठाई की, न संकोच किया। यह अस्मिता 'अहमस्मि' के दम्भपूर्ण अहंकार से विच्छिन्न 'अयमहमस्मि' (मैं यह हूँ) की विनीत किन्तु दृढ़, अभिव्यक्ति का परिचायक है, जिसमें कवि भले ही 'आपको न देख पाया हो' किन्तु 'आप कवि को अवश्य भली-भाँति देख, परख, समझ और जान सकते हैं।'

'रूप की धूप' हिन्दी संसार में पूर्णतः अभिनव प्रयोग है। कवि ने निस्संकोच होकर 'हर फूल की सुगंध निचोड़ने' की और 'सब आयु चढ़ी रूप-भावना की भेंट' की बात निश्छल होकर कही है। इस 'रूप' के दर्शन, भोग, योग, विभावन, संस्कार, निर्वेद, क्षोभ और मनस्तृप्ति सबका निर्विकार चित्त से सटीक लेखा प्रस्तुत करने में कवि ने किसी प्रकार का न कार्पण्य किया है न संकोच, यहाँ तक कि वह मरण में भी 'प्रिय' की 'धड़कनें पीते रहने' और उस प्रिय की 'आयु में जीते रहने' के दृढ़ संकल्प का भी अत्यंत आत्मविश्वास के साथ उद्घोष करता है। इससे 'रूप की धूप' कहीं-कहीं बड़ी मार्मिक हो गयी है क्योंकि

इसमें फ़ारसी या उर्दू कवियों के सामान किसी के रूप से प्रभावित होकर मूर्च्छित होने, प्रिय की छुरी के तले सर देने, अपनी समाधि पर उसे बुलाने आदि की हास्यास्पद परिस्थितियों की कल्पना न करके रूप की मीमांसा, उसका विश्लेषण, उसका प्रभाव, उसकी निकटता का आनंद, उसका रस लेने की उत्सुकता, उसके कारण मन की कसमसाहट, उससे दूर होने पर खीझ और वेदना, सबका मनोमोहक गुम्फन किया है। ये सब अनुभव विभिन्न अवसरों पर, विभिन्न रूपों के प्रसंग में, विभिन्न परिस्थितियों और अवसरों पर हुए हैं इसलिये इनका माधुर्य और भी अधिक रसीला और रंगीन होकर निखर उठा है। क्या सादगी के साथ कवि अपनी प्रेयसी को सुझाव देता है ---

ज्योति-सी उमड़ चली लगती है
स्वर्णमय गली-गली लगती है
श्याम-घन-केश हटा लो मुख से
रूप की धूप भली लगती है

यह रूप की धूप निश्चय ही जाड़े की वह धूप है जिसमें बाधा डालनेवाली किसी प्रकार की भी बदली किसी को भी अखर उठ सकती है।

इतना होते हुए भी 'रूप की धूप' पूर्णतः भारतीय भावना और संस्कार के साथ रुबाइयों में ढाली गयी है।

'कुँवारी दृष्टि' नाम से किसीको भी चौंक पड़ना चाहिए क्योंकि वास्तव में कुँवारी दृष्टि उसी जन्मांध की दृष्टि हो सकती है जो सहसा किसी ओषधि, मंत्र, तंत्र, गुरु-प्रसाद या तप से खुल गयी हो और जिसने कभी उससे पूर्व कुछ भी देखा ही न हो। लाक्षणिक दृष्टि से 'कुँवारी दृष्टि' उस दृष्टि को कह सकते हैं जो कभी किसी से 'लड़ी' न हो, दो से चार न हुई हो और जो व्याकुलजी के प्रसिद्ध दोहे के अनुसार---

परत काँकरी तनिक सी, होत जिया बेचैन

वे व्याकुल कैसे जिएँ, जिन नैनन में नैन

'नैनन में नैन' वाली बात कभी न हुई हो अथवा जो रसलीन द्वारा वर्णित उस बहुरंगी दृष्टि के घातक आघात से बची रह गयी हो जिसका यह प्रभाव है कि ---

अमी - हलाहल - मदभरे, सेत, श्याम, रतनार
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार

इसी भाव को संवर्द्धित करते हुए कवि ने क्या कौतूहल उत्पन्न किया है ---

नेत्र विष, अमृत हैं, शराब भी हैं
मधुप हैं, चाँद हैं, गुलाब भी हैं
कौन इनसे न मर जिये झूमे !
मौन हैं, प्रश्न हैं, जवाब भी हैं

व्यंजना से वह दृष्टि भी कुँवारी कही जा सकती है जो किसी भी अवस्था में किसी अन्य दृष्टि से लड़ने, मिलने, मिलकर प्रभावित होने अथवा मिलने को उत्सुक होने को उद्यत ही न हो।

कवि की 'कुँवारी दृष्टि' के अर्थ में वह दृष्टि भी आ सकती है जो निरंतर सरस, लुभावना, मनोहर दिखाई देनेवाला, ऐसा 'लड़ैते' दृगवाला प्रिय ढूँढती फिरती हो जिसके दुर्वारणीय आघात से बिहारी के लाल की-सी दशा हो जाय ---

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल
कहुँ मुरली, कहुँ पीतपट, कहूँ मुकुट, बनमाल

क्योंकि कवि ने स्वयं डंके की चोट स्वीकार किया है ---

आपसे नयन क्या मिले पलभर, एक जीवन लुटा दिया मैंने
दीप घर में न जल सका लेकिन दीप से घर जला लिया मैंने

वह 'दृष्टि' शुद्ध स्वकीया नायिका-तुल्य है जो अपने प्रिय के द्वारा दी जानेवाली समस्त यातनाओं को भी सहर्ष अंगीकार करने के लिये उत्सुक, व्याकुल और सन्नद्ध है।

हारती गयी पर न हारी है

हार में भी बड़ी ही प्यारी है
सैंकड़ों भाँवरें भरीं फिर भी
रूप की दृष्टि चिर-कुँवारी है

सैंकड़ों भाँवरें भर लेने पर भी दृष्टि तभी चिर कुँवारी रह सकती है जब 'सप्तपदी' न हुई हो, वह किसी दूसरी दृष्टि के साथ बह न गयी हो । इसमें कोई संदेह नहीं कि यह 'कुँवारी दृष्टि' वैसी ही अछूती रसीली चितवन है, वैसी ही अनोखी है जिसके लिये बिहारी ने कहा है ---

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनी समान
वह चितवन औरे कछू, जिहिं बस होत सुजान

कवि ने अपने स्वांतर्निवेदन में कहा है कि "स्वैर्वादी रुचि वालों को तथा श्रृंगार-रस-प्रेमियों को 'रूप की धूप' 'कुँवारी दृष्टि' और 'योग-वियोग' नामक खंड विशेष प्रिय लगेंगे" । लगने भी चाहिए क्योंकि (सं) योग और वियोगमय ही तो श्रृंगार का स्वरूप है । इन दोनों पक्षों में भी 'वियोग' जिसकी उचित संज्ञा 'विरह' या 'विप्रयोग' (विप्रलंभ) है, श्रृंगार का प्राण माना जाता है ।

न विना विप्रयोगेन संयोगः पुष्टिमश्नुते ।
काषायिते हि वस्त्रादौ भूयात् रागो विवर्धते ।।

(विप्रयोग, विप्रलंभ या विरह के बिना संयोग सधता नहीं, पुष्ट ही नहीं होता । जैसे वस्त्र आदि रँगते समय रंग में यदि (हर्रे या फिटकरी जैसी) कसैली वस्तु डाल दी जाय तो रंग चटक हो उठता है। इसलिये जब किसी रसिक से पूछा गया कि संयोग और विप्रलम्भ में से तुम किसे वरण करना चाहते हो तो वह निर्द्वंद्व मन से कह उठा,

संगम-विरह-विकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः ।
संगम काले सैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ।।

(संगम और विरह में से यदि किसी एक को चुनने के लिये मुझसे कहा जाय तो मैं चट कह दूँगा कि मुझे अपनी प्रिया से संगम नहीं चाहिए, उससे विरह ही चाहिए क्योंकि संगम के समय तो वह अकेली

रह जाती है किन्तु विरह में तो सारा त्रिभुवन ही प्रियामय दिखाई देने लगता है)

माशूक के जलवे को महशर में कोई देखे
अल्लाह भी मजनूँ को लैला नज़र आता है

(प्रिय का प्रताप देखना हो तो हश्र (अंतिम न्याय) के दिन जाकर देख ले। उसका इतना प्रभाव है कि ईश्वर भी मजनूँ को 'लैला' ही दिखाई देने लगता है।)

उर्दू के कवियों ने भी इस 'विरह' की या 'मिलन' की लम्बी प्रतीक्षा (इंतज़ार) का ही अधिक महत्त्व बताया है ---

जो मज़ा इंतज़ार में देखा
न कभी वसले-यार में देखा

(जो आनंद प्रिय से मिलने की उत्कंठित प्रतीक्षा में मिला वह उससे मिलने में नहीं मिला)

किन्तु उर्दूवालों की इन अभिव्यक्तियों में केवल चोंचलेबाजी और बाह्य शब्दाडम्बर-मात्र भरा रहता है क्योंकि वे कुछ 'कह गुज़रने' के फेर में रहते हैं, अनुभव की भट्टी में पकाकर उसे पुष्ट करके प्रस्तुत करने की वृत्ति उनकी नहीं होती। किन्तु गुलाब ने योग-वियोग को पूर्णतः भारतीय तथा अभिनव परिधान में देखने और परखने का सफल प्रयोग किया है। इसलिये 'योग' के लिये उत्सुक कवि कैसी कोमलता के साथ निवेदन करता है ---

प्यार का फूल यह खिले, न खिले
विश्व की यवनिका हिले, न हिले
आज जी भर के देख लेने दो
कल मधुर रात यह मिले, न मिले

यह कोमल, पवित्र, अकलुष सुझाव 'कल की मधुर रात' मिल सकने की अनिश्चयता के कारण प्रस्तुत किया गया है और यह योग भी केवल 'दृष्टियोग' मात्र है ----

इस सादगी पे कौन न मर जाय, ऐ ख़ुदा

लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं

योग-वियोग के इन चौपदों में, श्रृंगार के योग-वियोग के इस समारंभ में समस्त मानस उपादानों या पारिभाषिक शब्दों में समस्त संगत संचारी भावों का संयमपूर्वक संग्रह किया गया है जिनमें शंका, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, चिंता, अमर्ष, गर्व, मोह, मति, आवेग, तर्क, औत्सुक्य, चपलता, उपालंभ सबकी अलग-अलग विभिन्न अवसरों के प्रसंग में रसमयी झाँकी मिल जाती है ---

प्रीति जग से नवीन की तुमने
फूँककर विरह-बीन दी तुमने
अश्रु का भर समुद्र आँखों में
हँसी ओठों की छीन ली तुमने

वियोग (विरह) के पश्चात् ही 'योग' अधिक स्थायी और मधुर होता है किन्तु यह आदर्श की बात है, व्यवहार की नहीं। व्यवहार में तो संयोग के पश्चात् विरह, विरह के पश्चात् संयोग, कभी संयोग, कभी वियोग, कभी संयोग में एक दीवार, रेल का डब्बा, कोई गुरुजन, कोई दुष्ट भी बाधक हो उठता है। इसलिये कवि ने किसी परिपाटी का पल्ला न पकड़कर इस विषय में स्वान्तःकरण को ही, अपने अनुभव को ही, प्रमाण माना है ---

खो गयी तुम जगत के रेले में
यों तड़पता हूँ मैं अकेले में
अपने माता-पिता से छूटा हुआ
जैसे बालक हो कोई मेले में

कवि ने यह जो निश्छल होकर अनुभव कह दिया वह न जाने कितने लोगों की आत्म-वेदना की ऐसी अभिव्यक्ति है जिसे सामाजिक भय से मुँह पर लाने का साधारणतः कोई साहस नहीं कर सकता।

एक और झाँकी लीजिये। कोई भी यह नहीं चाहता कि मेरे प्रिय किसी और की ओर दृष्टिपात भी करे। उर्दू के कवियों ने तो रक़ीबों (प्रेम-प्रतिद्वन्द्वियों) को जी भर के कोसा है और अपने 'माशूक'

को किसी रक़ीब का 'बगलगीर' होने पर छाती तक पीट ली है। किन्तु गुलाब ने बड़े कौशल से अपने प्रिय के इस अत्याचार को सराहना की अत्यंत उदार दृष्टि से देखा है ---

बोलना किसी से, देख लेना किसी और को
हृदय किसी का छीन, देना किसी और को
आपकी कला थी किन्तु काल बनी प्राण की
नाव में बिठाके मुझे, खेना किसी और को

सचमुच 'योग-वियोग' नई कला के साथ श्रृंगार के दोनों पक्षों को लेकर इस मनोरमता के साथ अवतरित हुआ है कि इससे पुराने और नये साहित्य-प्रेमियों को सद्यः सभी हृदयाह्लादक सामग्री एकत्र प्राप्त हो जायगी।

'उमर खय्याम' के विषय में कवि ने स्वतः लिखा है ---

"उमर खय्याम के मुक्तक-प्रबंध में मैंने उमर खय्याम के दर्शन को व्यवस्थित पद्धति देने का प्रयास किया है।" उमर खय्याम विश्व के सभी कोटि के साहित्य-प्रेमियों का प्रिय और हृदय-कवि बन गया है। इसलिये अनेक कवियों ने उसकी रुबाइयों के अत्यंत सरस अनुवाद तक कर डाले है। इसमें बच्चन का अनुवाद बहुत लोकप्रिय हुआ। इतना ही नहीं, बच्चन ने मधुशाला, मधुबाला आदि प्रतीकों के द्वारा उमर खय्याम के दर्शन के माध्यम से सभी दार्शनिकों के उस सिद्धांत की व्याख्या है जिसके अनुसार इस नश्वर संसार की प्रत्येक वस्तु को निःसार बताकर मनुष्य को सचेत किया गया है कि जिस रूप-वैभव पर तू अकड़ता फिरता है वह पानी का बुलबुला मात्र है।' किन्तु गुलाब ने जिस रीति से उमर खय्याम के दर्शन को समझाने का प्रयत्न किया है वह निश्चय ही श्लाघ्य है, नवीन है ---

स्वर्ण इतना कि सके तौल हिमालय के श्रृंग
राज्य का भूमि, गगन, दूर ग्रहों तक विस्तार
आप जब तुम न रहे, व्यर्थ, सभी निष्फल है
मृत्यु, हाँ, मृत्यु, यही एक तुम्हारा अधिकार

कितनी सरलता के साथ उमरखय्याम के सम्पूर्ण दर्शन को निचोड़कर रख दिया गया है। कबीर के शब्दों में ---

पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात

'विविधा' में 'मैं' के अंतर्गत बिंदु में सिन्धु या आत्म में परमात्म सत्ता का बोध, 'सीता-वनवास' में उस प्रसंग की करुण तथा मार्मिक वेदना, 'बदरीनाथ के पथ पर', 'हरिद्वार की गंगा के तीर पर' और 'कश्मीर' में भावुकता के साथ कभी भक्ति और कभी वड्र्सवर्थ के समान प्रकृति-मुग्धता का रस बरसता दिखाई दे जाता है। इन सभी प्रसंगों में कवि-कल्पना और तथ्य, दोनों की गंगा-जमुनी धारा में डूबता उतराता, तैरता, उछलता, मचलता कवि अपने साथ पाठकों को भी रसमग्न किये बहाये लिये चला जाता है।

'दोहा-शतदल' पूर्णतः नवीन प्रयोग है। इसमें विभिन्न अनुभवों, प्रयोगों, वृत्तियों तथा विचारों को नये प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है ---

अब आँसू कैसे थमें, मिलकर दिया बिछोह
दृग में काँटे बो गयी, वही कँटीली भौंह

बिहारी के निम्नलिखित दोहे की छाया इस पर पड़ी अवश्य है पर कवि ने इस कौशल से उसे नया रूप दे डाला है कि कोई इस पर चोरी या सीनाजोरी का आरोप लगाने का दुस्साहस नहीं कर सकता।

नासा मोरि नचाई दृग, करी कका की सौंह
काँटे सी कसकति हिये, वही कँटीली भौंह

इसी प्रकार का एक और भी मधुर चित्र है ---

सकुच तनिक, तिरछी झुकी, कर कपाट-से जोड़
सलिल-वृष्टि करती गयी, दृष्टि दृष्टि में छोड़

मिलाइये तो ---

डारि इन नैनन में नैन निज न्यारे स्याम
हाँसी करि नासी आँसू-सिन्धु पधराये हैं

कहीं-कहीं बिहारी के 'असंगत' अलंकार की कला समेटने का भी अच्छा प्रयोग किया गया है। बिहारी ने कहा है ---

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीत
परति गाँठ दुर्जन हिये, दई नई यह रीत

और गुलाब कहते हैं ---

खिले नयन, आनन झुका, पड़ी भ्रुओं में गाँठ
मन उड़ता, सीखा जहाँ, प्रथम प्रणय का पाठ

और

गिरी लाज, पलकें उठीं, चली भौंह कर घात
उनके मुँह पर आ गयी, मेरे मन की बात

इस प्रकार के अनेक मधुर संकेतों से दोहा-शतदल ऐसा मनोरम उपवन बन गया है जिसमें अनेक रंगों के एक से एक बढ़िया, सुन्दर, मोहक गुलाब खिले, महमह महके पड़ रहे हैं।

समग्र रूप से 'रूप की धूप' निश्चय ही अत्यंत सुहावनी है। जिस सौभाग्यशाली पर यह पड़ जायगी वह धन्य हो जायगा।

मैं हृदय से 'रूप की धूप' का स्वागत और अभिनन्दन करते हुए विश्वास करता हूँ कि प्रत्येक सहृदय इस रूप की धूप का जी भरकर सेवन करके निरंतर सात्विक उष्णता का अनुभव करता मगन हुआ रहेगा।

उत्तर बेनियाबाग ---सीताराम चतुर्वेदी
श्री रामनवमी, सं. २०२८